International Journal of Advanced Education and Research

International Journal of Advanced Education and Research
ISSN: 2455-5746, Impact Factor: RJIF 5.34
www.alleducationjournal.com
Volume 2; Issue 3; May 2017; Page No. 162-164

प्राचीन व्याकरण में पद एवं शब्दराशि का महत्त्व

सुशीला आर्या

शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

प्राचीन व्याकरण में प्राय: इस राशि को निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय और अव्यय, नाम से कहा जाता है। आधुनिक पाश्चात्य वैयाकरणों का एक दल इन्हें क्रियाविशेषण, आदि-निपात, उपसर्ग, विभक्त्यर्थक कर्मप्रवचनीय और समुच्च-बोधक निपातों के रूप में गिनता है। पाणिनि ने इस राशि को समग्रत: 'अव्यय' नाम दिया है, जबकि येस्पर्सन इसे ही समग्रत: पार्टिकल' नाम देते हैं। इसी आधार पर हमने इस प्रबन्ध में इन दोनों संज्ञाओं को समानार्थक माना है। येस्पर्सन इस वर्ग में केवल चार उपवर्गों का ही परिगणन करते हैं: कियाविशेषण (एड्वर्ब), कर्मप्रवचनीय (प्रेपोजिशन), समुच्चयबोधक और विस्मयादिबोधक। भारतीय दृष्टि के अनुकूल उनकी अपनी विशेषता यह है कि उन्होंने आदिनिपातों को अव्ययों के सामान्य वर्ग से निकालकर उन्हें सर्वनाम के वर्ग में रखा है। भारतीय दृष्टि के अनुकूल ही उन्होंने प्रत्ययों के भी तीन वर्ग किए हैं। आदिप्रत्यय (उपसर्ग और आगम सहित), मध्य प्रत्यय (मध्य आगम सहित,), और अन्त्य प्रत्यय (विभक्तिवचनार्थक प्रत्यय सहित)।[1] उदाहरणों के द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है कि उपसर्गों की स्थिति भी प्रत्ययों के समान ही है, भिन्न नहीं।

उपसर्ग प्रत्यय से भिन्न

येस्पर्सन के इस विभाग का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने यूरोपीय भाषाओं पर, विशेष कर आंग्ल भाषा पर, अधिक दृष्टि दी है। यूरोपीय भाषाओं से निकलने वाले निष्कर्षों को वे 'आंग्ल भाषा' पर न घटता पाकर उन्हें बदल देते हैं। उदाहरणार्थ, 'निएक्शन, प्रिफर, पफेक्ट', आदि में वे रि, प्रि, पैर, आदि को केवल मूल उद्गम के कारण ही 'उपसर्ग' मानते हैं। कार्य की दृष्टि से उन्हें वे मूल-शब्द या धातु से अविभाज्य ही मानते हैं। क्योंकि, ऐसे विभाग में किसी स्पष्टार्थ की सूचना विभागों द्वारा मिलनी असम्भव हो जाती है।[2] संस्कृत में भी 'संग्राम' आदि शब्दों और नामधातुओं में यही स्थिति स्वीकार की गई है।[3] वैसे जर्मन भाषा के वैयाकरणों ने भी उपसर्ग की दो स्थितियां स्वीकार की हैं। वियोज्य और अवियोज्य।[4] इन्हें क्रमश: 'सबल' और 'बलहीन' भी कहा जाता है।[5]

इन सब स्थितियों में एक सत्य से तो येस्पर्सन भी इनकार नहीं कर सकते कि इन सभी प्रयोगों में उपसर्ग या तथाकथित 'उपसर्ग' सदा धातु या क्रियामूल के संयोग में ही आया है, तथा वह सदा धातु से पहले भी आया है। क्रियामूल (धातु) के साथ और उससे पूर्व आने का एकमात्र कारण यह है कि 'धातु' सर्वत्र मूलार्थवाहक होती है। उपसर्ग के संयोग से उस अर्थ में सबलता, न्यूनता, विशिष्टता, आदि कई स्थितियों की सम्भावना मानी जाती है।[6] क्रिया या धातु के अतिरिक्त सार्थक शब्दराशि को 'प्रातिपदिक' या 'नाम' के रूप में स्वीकार किया गया है।[7] उनका प्रयोग भी अन्वर्थक तभी होता है, जब वे 'धातु' जैसी किसी प्रकृति से युक्त हों। अन्यथा, उनका अस्तित्व संकेतनात्मक ही होता है। ऐसे प्रयोगों में उपसर्ग के अस्तित्व या अनस्तित्व से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, 'गज' और 'प्रगज' में अन्तर तब तक निरुद्देश्य ही माना जाएगा, जब तक कि 'गज' धातु के रूप में कोई मूलार्थ या धातु 'गज' शब्द के निर्माण में हेतु न माना जाए। पर 'गम', 'कृ', आदि धातुओं से प्रगम, प्रकर, आदि का विशिष्टार्थ में प्रयोग सम्भव ही है। अत: पाणिनि का यह नियम प्राय: निरपवाद ही ठहरता है कि अर्थविभेदक या अर्थविशेषक के रूप में 'उपसर्गों' का योग सदा क्रिया के साथ या उनके आदि में ही होता है।[8] उपसर्ग और 'प्रिफिक्स' नामकरण इस आधार पर पड़ा है कि इनका प्रयोग उन-उन भाषाओं में सदा आदि में ही होता है। जर्मन नाम 'फोर्सिल्बे' भी इसी बात को आधार मानते हैं।

उपसर्ग या आदिप्रत्यय

प्रश्न यह है कि जहां इस प्रकार का अन्तर नहीं आता, या जहां इस संयोग के कारण उपसर्ग और क्रिया का विभेद करना अयुक्त जंचता है, वहां इन तथाकथित शब्दरूपों को 'उपसर्ग' माना जाए, या येस्पर्सन की भाँति उन्हें 'प्रत्यय' स्वीकार किया जाए? इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्ययों का प्रयोग भी अर्थ में यत्किंचित् परिवर्तन लाने के लिए ही होता है; यद्यपि यह परिवर्तन उपसर्ग से आने वाले परिवर्तन की अपेक्षा भिन्न होता है। विश्वभाषाओं के सर्वेक्षण से यह भी पता चलता है कि इन प्रत्ययों का प्रयोग आदि, मध्य, या अन्त में से किसी स्थान सर्ग' से अभिन्न स्वीकार किया जा सकता है? स्मरण रहे कि पाणिनि प्र, परा, आदि को उपसर्ग और 'बहुच्' आदि का आदिप्रत्यय मानते हैं।

प्रत्यय की स्थिति

प्रत्ययों में प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्यय विभक्ति-तद्धित-आदि के रूप में एक निश्चित अर्थ को लेकर चलते हैं। अफ्रीकी भाषाओं के आदि प्रत्यय और तुर्की आदि भाषाओं के मध्य

प्रत्यय निश्चय ही विभक्तिव-चनादि की सूचना मुख्य रूप से देते हैं। संस्कृत और आरोपीय भाषाओं में प्रायः अन्त्य प्रत्ययों की प्रधानता मिलती है। यह भी स्मरणीय है कि जिन भाषाओं में आदिप्रत्ययों की या मध्य प्रत्ययों की बहुलता होती है, उनमें अन्त्य प्रत्ययों का प्रयोग प्रायः शून्य ही होता है। प्रत्ययों में प्रयोग की प्रधान स्थिति प्रायः हर भाषा या भाषावर्ग में निश्चित सी होती है। यद्यपि इस स्थिति में सापवाद अन्तर मिलते ही हैं। पर, यह भी सत्य है कि एक ही शब्द में आदि, मध्य, और अन्त्य प्रत्ययों का संयोग बहुलता से या समान प्रचुरता से पाया जाना सम्भव नहीं है। 'प्रकीर्णन' में यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। इसमें 'प्र', 'न' और 'अन' को क्रमशः आदि, मध्य और अन्त्य प्रत्ययों के रूप में माना जा सकता है। ऐसे उदाहरण सहस्त्रंशः ढूंढे जा सकते हैं। केवल इसलिए कि इनका स्थान आदि, मध्य, या अन्त में है, तथा इन्हें मूल धातु या शब्द का अंग नहीं कहा जा सकता, इन तीनों का 'प्रत्यय' की सामान्य कोटि में रख देना उचित नहीं कहा जा सकता। यह अद्‌भुत सत्य है कि हम आदि, मध्य, या अन्त में आने वाले इन धातुभिन्न अंशों को भाषाभेद से अलग-अलग प्रकृति का और इसीलिए अलग-अलग वर्ग का, पाते हैं। आदि-स्थानीय अंश कभी मध्य या अन्त में उसी भाषा में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते। यही बात अन्य स्थानीय अंशों के विषय में भी है। भाषाभेद से इन सब के स्वरूप और प्रयोजन में परस्पर भिन्नता होती है।

वर्ग की भिन्नता

इसलिए यह तो स्पष्ट है कि एक ही भाषा में आने वाली इन भिन्न-भिन्न स्थानीय ध्वनियों को एक ही वर्ग का मानकर उन्हें एक ही नाम देना उचित नहीं कहा जा सकता। न ही उन्हें 'प्रिफिक्स', 'इन्फिक्स' और 'सफिक्स' नाम देकर ही समस्या का हल किया जा सकता है। क्योंकि, इन नामों से उनकी स्थानभिन्नता का परिज्ञान तो होता है, पर उनकी प्रयोजनभिन्नता का तनिक भी आभास नहीं मिलता। ये नाम इस भ्रम को उत्पन्न करते हैं कि स्थानभिन्नता के अतिरिक्त इन तीनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। इन्हें हम क्रमशः पूर्वसंयोजी, मध्य-संयोजी और अन्त्यसंयोजी के रूप में भी कह सकते हैं। इनका महत्त्व न केवल 'संयोग' के कारण है, और न केवल 'स्थान' के कारण। केवल भारोपीय ही नहीं, बल्कि सभी भाषाओं में इनकी उपस्थिति के साथ-साथ इनकी प्रयोजनभिन्नता भी स्पष्ट देखी जा सकती है। जहां ये इस रूप में उपस्थित नहीं, वहां की बात पृथक् है। इसलिए यदि एक ही भाषा में इनकी उपस्थिति विद्यमान होगी, तो इन तीनों के पृथक् महत्त्व को देखते हुए प्रयोजनभिन्नता के अनुसार तीन वर्ग बनाने अधिक उचित रहेंगे; भले ही स्थान की शर्त वहाँ पूरी न हो। समस्त भारोपीय परिवार की दृष्टि से ये तीन वर्ग क्रमशः उपसर्ग, आगम और प्रत्यय के रूप में कहे जा सकते हैं। भाषा भेद की दृष्टि से इनके स्थान और क्रम में कुछ अन्तर आ सकता है, पर प्रयोजन की दृष्टि से इनकी पृथक्ता स्वीकार करना ही उचित है।

अतः निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'उपसर्ग' और 'प्रत्यय' भिन्न प्रयोजन और भिन्न रूप से प्रयुक्त होते हैं। भाषाभेद से और परिवारभेद से इनके स्थान या इनके भाव-अभाव की स्थिति भिन्न हो सकती है, किन्तु एक भाषा के आदि-प्रत्यय और किसी दूसरी के आदि-उपसर्ग को तुल्य और समप्रयोजन नहीं ठहराया जा सकता।

उपसर्ग की भिन्नता

उपसर्ग वस्तुतः निश्चितार्थक नहीं होते। स्वतन्त्रावस्था में निश्चितार्थक न होने के कारण ही ऐसी ध्वनिवर्गों को यास्क ने 'निपात' नाम दिया है।[9] यह संज्ञा इस वर्ग को इसलिए दी जाती है कि उनका अर्थ स्थान और प्रयोग के अनुसार भिन्न हो सकता है। वस्तुतः उनका अपना अर्थ कुछ होता ही नहीं।[10] परम्परा और प्रयोग से कोई अर्थ स्थिर हो जाता है, किन्तु यह भी अनेक प्रकार का हो सकता है। पर यह अनेकविधता सार्वत्रिक नही है। यही कारण है कि येस्पर्सन इनकी उपयोगिता और महत्त्व को ठीक से नहीं पहचान पाए। उन्होंने 'प्रिफिक्स' को प्रत्ययों के अंतर्गत ग्रहण किया है। पर, साथ ही वे प्रेपोजिशन, समुच्चयबोधक, और विस्मयादिबोधक अव्ययों को भिन्न स्थिति का स्वीकार करते हैं। इन तीन परवर्त्ती भेदों से सम्बन्ध में एक सत्य को तो येस्पर्सन भी स्वीकार करते हैं। और उसपर बल देते हैं कि इन्हें अलग-अलग वर्ग में रखना भ्रामक और अनुचित है। स्पष्ट है कि यदि वे 'प्रिफिक्स' के नाम से भी भ्रम में न पड़ते, और 'फिक्स' अर्थात् 'संयोग' शब्द की सार्थकता को अधिक महत्त्व न देते, तब वे उस वर्ग को भी उक्त कोटि में ही सम्मिलित कर लेते। यहां यह बात ध्यान देने की है कि संस्कृत में उपसर्गों' को संयोग' के रूप में देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। वैदिक में उपसर्ग स्वतन्त्र अवस्था में भी प्रयुक्त मिलते हैं। पर, पाणिनि के 'उपसर्गः क्रियायोगे'[11] सूत्र की सार्थकता वहाँ भी कायम है। कारण यह कि अर्थवृत्ति में उनका साहचर्य या संयोग 'क्रिया' से ही होता है, अन्यथा अर्थदृष्टि से वे महत्त्वहीन ही ठहरते हैं। यह बात इस सत्य को पुष्ट करेगी कि 'संयोजी' का अर्थ भौतिक रूप में नहीं लेना चाहिए यदि जर्मन, संस्कृत, आदि भाषाओं की तुलनात्मक स्थिति पर विचार किया जाए, तब हम पाएंगे कि यह उपसर्ग क्रिया से बहुत ढीले रूप में संयुक्त होता है। जर्मन में हम जिन्हें 'वियोजी (वियोज्य) उपसर्ग' मानते हैं, वे इसी सत्य को पुष्ट करते हैं। वियोजी उपसर्गों और धातु के बीच अट् (सं.), गे (जर्मन), आदि आगम आ ही जाते हैं।[12] फिर, 'पार्टिकल' या 'अव्यय' को एक अलग वर्ग स्वीकार करते हुए येस्पर्सन भी उसकी रूपपरिवर्तनहीनता को ही एकमात्र और प्रमुख आधार नहीं मानते। इन्हें वे 'इनवेरियेबल' नाम देते हैं। प्रमुखता वे इनकी प्रयोगस्थिति की भिन्नता और कार्य भिन्नता को देते हैं। अतः इन सबको एक कोटि में रखने की प्रमुख आधार स्थितिभिन्नता में अर्थभिन्नता का होना है।

एक और बात जिसे येस्पर्सन नहीं देख पाए, वह यह है कि जर्मन जैसी भाषा में, संस्कृत और ग्रीक से समान ही, प्रिफिक्स (उपसर्ग) और प्रेपोजिशन (कर्मप्रवचनीय) की स्थिति परस्पर उलझती सी दीखती है। वहां आर्टिकल, एडवर्ब, और प्रेपोजिशन की रूपात्मक स्थिति उपसर्ग के सदृश ही दिखाई देती है। आन्, अम्, डास्, डेर, इन्, आदि की जर्मन में, तथा प्र, परा, अप, उप, आदि की संस्कृत और ग्रीक में, यही उभयात्मक स्थिति है। कार्यप्रयोजन की दृष्टि से इन्हें समानाकृति होने

पर भी अलग वर्गों में विभक्त ही स्वीकार किया गया है। केवल अंग्रेजी में पलटी हुई स्थिति के आधार पर एक नये मन्तव्य की स्थापना करना न्याय्य नहीं ठहरता। बल्कि वहां उस नयी स्थिति में, उपसर्गसदृश उन ध्यन्यंशों को मूल शब्द का अंश मानकर, उस भाषाविशेष में, नए धातु रूपों की कल्पना की जा सकती है।

निपात

फिर इन सबको क्या नाम दिया जाए, जिसमें येस्पर्सन द्वारा परिगणित शब्दराशि और उपसर्गों, या तत्सम सभी शब्दराशियों, का भी समावेश हो जाए? महान् वैयाकरण पाणिनि, उनके पूर्ववर्ती यास्क, एवं उनके अनुयायी कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि, इस सब राशि को 'निपात' नाम देते हैं। यास्क, इन्हें 'उच्चा-वच अर्थों में निपतित' तो मानते ही हैं, इनके तीन भेदों की भी चर्चा करते हैं। ये तीन भेद हैं: उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक, और पदपूरण। इनमें से पहले दोनों येस्पर्सन के गिनाए भेदों से मिलते हैं, जबकि अन्तिम को संस्कृत एवं कुछ ही अन्य भाषाओं की विशेषता माना जा सकता है। सम्भवत: इनकी आवश्यकता भाषा की संगीतमयता के कारण होती है। पर, यास्क की अन्यों से भिन्नता यह है कि 'उपसर्ग' को वे सर्वथा पृथक् वर्ग मानते हैं। उसकी चर्चा वे पृथक् पाद में करते हैं।[13] पाणिनि पहले सब वर्गों को समवेत रूप में 'निपात' नाम देते हैं। बाद में, वे उसके उपवर्ग गिनाने आरम्भ करते हैं।[14] उनका वक्तव्य इस प्रकार है:

(क) यह सम्पूर्ण राशि निपात कहलाती है।[15]

(ख) क्रिया के योग में यही 'उपसर्ग' कहलाते हैं।[16]

(ग) ऐसी ही एक स्थिति में इसे 'गति' नाम भी दिया जाता है।[17]

(घ) इनमें से कुछ स्थितिविशेष में 'कर्मप्रवचनीय' कहलाते हैं।[18]

(ङ) पर, अन्त में आकारत: अपरिवर्तनीय होने के कारा इन समस्त निपातों को 'अव्यय' नाम दे दिया जाता है।[19]

भर्तृहरि की धारणा उक्त मत से अभिन्न ही है। उनका बल निपात और उपसर्ग के समान 'कर्मप्रवचनीय' को भी महत्त्व देने मात्र पर अधिक है, यद्यपि मूलत: ये सारी पदभेद-कल्पना के ही विरोधी है।

निष्कर्ष

उक्त कथनोपरान्त हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अर्थात्मक समानता की दृष्टि से इस सब शब्दराशि को 'निपात', और आकारात्मक अपरिवर्त्तनीयता की दृष्टि से इसे 'अव्यय', नाम दिया जा सकता है। यह बात पहले स्पष्टता से कही जा चुकी है यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि ये सब नाम केवल 'निपात' नाम से अभिहित शब्दराशि के लिए ही लागू नहीं होते; बल्कि इनमें से प्रत्येक से एक अतिरिक्त शब्दराशि का भी ग्रहण होता है।ऐसी स्थिति में प्रयोजनविशेष की दृष्टि से इस नामावली को अनुपयोगी कहना तो उचित नहीं ठहरता, पर इतना भी निश्चित है कि उन सभी को अलग-अलग वर्गों या पदभेदों के रूप में मान्यता देने से भी समस्या उलझेगी ही। अत: येस्पर्सन और भारतीय विद्वानों के समान्यत: मान्य पथ का अनुकरण ही उचित कहा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. येस्पर्सन इन्हें क्रमश: च्तमपिगए प्दपिग और ैनर्पिग के नाम से कहते हैं।
2. दि फिला. ग्रा., पृ. 43
3. वा. 2. 283
4. इनके नाम क्रमश: 'फोर्सिल्बे बिटौंट' और 'फोर्सिल्बे उन्बिटौंट' ने स्वीकार किए हैं। इनको ये नाम उपसर्गों की सबलता-निबर्लता पर आधारित उनकी सामर्थ्य के कारण दिये गए हैं।
5. सबल-निर्बल क्रियाओं के जर्मन नाम हैं क्रमश: 'फेर्ब ट्रेन्बार', और 'फेर्ब एण्ट्रेन्बार'। (देखें, 'डॉयच् स्प्राख्तेहरे.' पृ. 17)
6. लेखक, भाषा. वाक्य., पृ. 136.138
7. पा. 1.2.45
8. पा. 1. 4. 49
9. नि. 1.1.2 और 1.2.1
10. नि. 1.1.4
11. पा. 1.4.59
12. भाषा. वा., पृ. 137
13. नि. 1.1.4 से 4
14. पा. 1.1.56 से 58
15. पा. 1.4.59
16. पा. 1.4.60
17. पा. 1.4.53
18. पा. 1.2.37
19. यही प्रबन्ध, अध्याय-4